



परमात्मप्रकाश

- योगींदुदेव

Index



गाथा / सूत्र	विषय
1-001)	मंगलाचरण
1-002)	सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार
1-003)	सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार
1-004)	सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार
1-005)	सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार
1-006)	अरिहंत परमेष्ठी को नमस्कार
1-007)	आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी को नमस्कार
1-008)	प्रभाकरभट्ट द्वारा विनती
1-009)	विनती
1-010)	परमात्मा के कथन की विनती
1-011)	तीन प्रकार के आत्मा को कहने की प्रतिज्ञा
1-012)	तीन प्रकार के आत्मा को जानने का प्रयोजन
1-013)	बहिरात्मा
1-014)	अन्तरात्मा
1-015)	परमात्मा
1-016)	ध्येय
1-017)	लक्ष्य के लक्षण
1-018)	शान्त और शिव
1-019-021)	निरञ्जन
1-022)	परमात्मा - ध्यान के साधन नहीं
1-023)	परमात्मा - ज्ञान का साधन नहीं
1-024)	परमात्मा - अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमयी
1-025)	परमात्मा - शरीर रहित लोक के शिखर पर स्थित
1-026)	परमात्मा - शरीर में स्थित
1-027)	परमात्मा - अंतर-दृष्टि के प्रेरणा
1-028)	[परमात्मा - शारीरिक और मानसिक सुख-दुःख रहित
1-029)	[परमात्मा - देह में रहते हुए भी स्वभाव में स्थित
1-030)	भेद-ज्ञान की प्रेरणा
1-031)	आत्मा का लक्षण
1-032)	ध्यान की विधि और उसका फल
1-033)	देह में ही परमात्मा का निवास
1-034)	परमात्मा का एक अद्भुत लक्षण
1-035)	परमात्मा - समभाव द्वारा परम आनन्द की प्राप्ति
1-036)	आत्मा का परम आत्मा स्वरूप

1-037)	पूर्व कथन की पुष्टि
1-038)	परमात्मा - केवलज्ञान में स्वयं प्रतिभासित
1-039)	परमात्मा - ध्यान का ध्येय
1-040)	परमात्मा - संसार को उपजाता है
1-041)	परमात्मा - संसार में रहते हुए भी संसार से परे
1-042)	परमात्मा - उत्कृष्ट समाधि / तप द्वारा ही जो जाना जाता है
1-043)	परमात्मा - उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त
1-044)	शरीर और आत्मा के दृढ़ सम्बन्ध
1-045)	देह से आत्मा का विशिष्ट महत्व
1-046)	परमात्मा का वीतराग स्वरूप
1-047)	परमात्मा के ज्ञान के स्थान का कथन
1-048)	कर्म बंधन से मुक्त परमात्मा का स्वरूप
1-049)	कर्म बंधन से मुक्त परमात्मा का स्वरूप
1-050)	आत्मा क्या है
1-051)	आत्मा का स्वरूप
1-052)	आत्मा का सर्वव्यापक स्वरूप
1-053)	आत्मा का जड स्वरूप
1-054)	आत्मा का चरम शरीर प्रमाणरूप स्वरूप
1-055)	आत्मा के शून्य स्वरूप का कथन
1-056)	आत्मा के लक्षण
1-057)	आत्मा के लक्षण का स्पष्टीकरण
1-058)	आत्मा द्रव्य और उसके गुण
1-059)	आत्मा और कर्म का परस्पर सम्बन्ध
1-060)	सभी जीवों का प्राण कर्म
1-061)	कर्म के कारण जीव को स्वभाव-लाभ नहीं
1-062)	विषय-कषायों में लिप्तता से कर्म-बंध
1-063)	इन्द्रियाँ, मन, समस्त विभाव, दुःख कर्म-जनित
1-064)	परमार्थ से दुःख-सुख कर्म जनित
1-065-1)	जिन्वचन को नहीं मानने का परिणाम
1-065)	परमार्थ से बन्ध और मोक्ष कर्मजनित
1-066)	कर्म द्वारा ही जीव के लोक में भ्रमण
1-067)	द्रव्य-रूप परिवर्तित नहीं होता
1-068)	जीव के जन्म-मरण बंध-मोक्ष नहीं
1-069)	जीव के जन्म-मरण-रोग, इन्द्रियाँ, वर्ण नहीं
1-070)	जन्म-बुढ़ापा-मरण, रोग, वर्ण देह के
1-071)	जीव को अमर जानकर भय-मुक्त हो
1-072)	शरीर से ममत्व त्यागकर आत्मा को ध्या
1-073)	पर-भाव और पर द्रव्य जीव स्वभाव से भिन्न
1-074)	ज्ञानमयी भाव को छोड़कर अन्य सभी भाव को त्याग
1-075)	रत्नत्रयमयी आत्मा का ध्यान कर
1-076)	सम्यग्दृष्टि

1-077)	मिथ्यादृष्टि
1-078)	कर्म बलवान हैं
1-079)	मिथ्यात्वी का लक्षण
1-080)	मिथ्यात्वी की मान्यता
1-081)	और भी
1-082)	और भी
1-083)	और भी
1-084)	अज्ञान ही पाप
1-085)	सम्यक्त्व की प्राप्ति
1-086)	आत्मा स्पर्श या वर्ण नहीं
1-087)	आत्मा के वर्ण या लिंग नहीं
1-088)	आत्मा के वेष नहीं
1-089)	आत्मा गुरु-शिष्यादिक भी नहीं
1-090)	आत्मा मनुष्य-देव आदि नहीं
1-091)	आत्मा पंडित मूर्ख आदि नहीं
1-092)	आत्मा पुण्य-पापादि नहीं
1-093)	आत्मा क्या है?
1-094)	आत्मा ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र
1-095)	आत्मध्यान किसी तीर्थ, गुरु, देव से भी उत्कृष्ट
1-096)	आत्मा ही दर्शन
1-097)	आत्मध्यान से क्षणमात्र में मुक्ति
1-098)	आत्म-ज्ञान बिना ज्ञान तप निष्फल
1-099)	आत्मज्ञान से केवलज्ञान
1-100)	उसी को दृढ़ करते हैं
1-101)	केवलज्ञान का स्वभाव
1-102)	उदाहरण
1-103)	उपसंहार
1-104)	प्रश्न
1-105)	आत्मा का संस्थान
1-106)	पर भावों को छोड़
1-107)	आत्मा ज्ञान गोचर
1-108)	परलोक -- आत्मा से परमात्मा
1-109)	परलोक -- अपना स्वरूप जानना
1-110)	परलोक -- ध्यान का ध्येय
1-111)	जैसी मति वैसी गति
1-112)	पर-द्रव्य को मत देख
1-113)	पर-द्रव्य
1-114)	ध्यान की सामर्थ्य
1-115)	चिंता रहित होकर देख
1-116)	आत्म-ध्यान के बिना सुख सम्भव नहीं
1-117)	आत्म-ध्यानी के सुख के सामान सुख नहीं

1-118)	आत्म-ध्यानी को भगवान जैसा सुख
1-119)	मोक्ष अपने आप में
1-120)	राग-रंजित को मोक्ष-सुख नहीं
1-121)	राग और सुख एक साथ नहीं रह सकते
1-122)	भगवान आत्मा अनादि से
1-123-A)	वन्द्य-वंदक भाव रहित
1-123-B)	मन पर लगाम द्वारा मुक्ति प्राप्ति
2-001)	समभाव द्वारा सुख की प्राप्ति
2-002)	शिष्य द्वारा अनुरोध
2-003)	मोक्ष, मोक्ष का फल, मोक्ष का कारण करने की प्रतिज्ञा
2-004)	मोक्ष ही सुख
2-005)	तीन पुरुषार्थों की अपेक्षा मोक्ष पुरुषार्थ की उत्तमता
2-006)	मोक्ष तीन-लोक में उत्कृष्ट
2-007)	मोक्ष में अविनाशी सुख
2-008)	सभी ज्ञानियों का ध्येय मोक्ष
2-009)	मोक्ष के चिंतवन की प्रेरणा
2-010)	मोक्ष - परमात्म-प्राप्ति
2-011)	मोक्षफल - शास्वत सुख
2-012)	मोक्ष-मार्ग - निश्चय रत्नत्रय
2-013)	मोक्ष-मार्ग - रत्नत्रय परिणत आत्मा



!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः !!

श्रीमद्-भगवत्योगीन्दु-देव-प्रणीत

श्री

परमात्मप्रकाश

मूल प्राकृत गाथा,

आभार :



!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥१॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥३॥

॥ श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं,
पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री-परमात्मप्रकाश नामधेयं, अस्य मूल-ग्रन्थकर्तारः श्री-
सर्वज्ञ-देवास्तदुत्तर-ग्रन्थ-कर्तारः श्री-गणधर-देवाः प्रति-गणधर-देवास्तेषां वचनानुसार-मासाद्य
आचार्य श्री-भगवत्योगीन्दु-देव विरचितं ॥

॥ श्रोतारः सावधान-तया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥



+ मंगलाचरण -

जे जाया झाणगियँ कम्म-कलंक डहेवि
णिच्च-णिरंजण-णाण-मय ते परमप्प णवेवि ॥१॥

अन्वयार्थ : [ये] जो (भगवान्) [ध्यानाग्निना] ध्यानरूपी अग्नि से [कर्म-कलङ्कान्] पहले कर्मरूपी मैलों को [दग्ध्वा] भस्म करके [नित्यनिरंजनज्ञानमयाः जाताः] नित्य, निरंजन और ज्ञानमयी सिद्ध परमात्मा हुए हैं, [तान्] उन [परमात्मनः] सिद्धों को [नत्वा] नमस्कार करके मैं परमात्मप्रकाश का व्याख्यान करता हूँ ।



+ सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार -

ते वंदउँ सिरि-सिद्ध-गण होसहिँ जे वि अणंत
सिवमय-णिरुवम-णाणमय परम-समाहि भजंत ॥२॥

अन्वयार्थ : और भी उन मंगलमय, अनुपम, ज्ञानयुक्त, अनन्त श्री सिद्ध समूहों को नमस्कार करता हूँ जो (आगामी काल में) परम समाधि को अनुभव करते हुए (सिद्ध) होंगे।



+ सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार -

ते हउँ वंदउँ सिद्ध-गण अच्छहिँ जे वि हवंत
परम-समाहि-महगियँ कम्मिंधणइँ हुणंत ॥३॥

अन्वयार्थ : और भी उन सिद्ध समूहों को प्रणाम करता हूँ जो (सिद्ध) परमसमाधिरूप उत्तम अग्नि में कर्मोंरूपी ईंधन को होम करते हुए (तथा) (सिद्धत्व को) प्राप्त करते हुए विद्यमान हैं ।



+ सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार -

ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे णिव्वाणि वसंति
णाणिं तिहुयणि गरुया वि भव-सायरि ण पडंति ॥४॥

अन्वयार्थ : [पुनः तान्] फिर उन [सिद्धगणान् वन्दे] सिद्धों को वन्दता हूँ, [ये निर्वाणे वसन्ति] जो मोक्ष में तिष्ठते हैं, [ज्ञानेन त्रिभुवने गुरुका अपि] ज्ञान द्वारा तीन-लोक में गुरु हैं, तो भी [भवसागरे न पतन्ति] संसार-समुद्र में नहीं पडते ।



+ सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार -

ते पुणु वंदउँ सिद्ध-गण जे अप्पाणि वसंत
लोयालोउ वि सयलु इहु अच्छहिँ विमलु णियंत ॥५॥

अन्वयार्थ : [अहं पुनः तान्] मैं फिर उन [सिद्धगणान्] सिद्धों के समूह को [वन्दे] वंदता हूँ [ये आत्मनि वसन्तः] जो अपने में तिष्ठते हुए [सकलं] समस्त [लोकालोकं] लोक अलोक को [विमलं] स्पष्ट [पश्यन्तः] देखते हुए [तिष्ठन्ति] ठहरते हैं ।



+ अरिहंत परमेष्ठी को नमस्कार -

केवल-दंसण-णाणमय केवल-सुख-सहाव
जिणवर वंदउँ भत्तियए जेहिँ पयासिय भाव ॥६॥

अन्वयार्थ : [केवलदर्शनज्ञानमयाः] केवलदर्शन-ज्ञानमयी, [केवलसुखस्वभावाः] केवलसुख स्वभावी [जिनवरान्] जिनेन्द्र भगवान को [भक्त्या] भक्ति से [वन्दे] नमस्कार करता हूँ [यैः] जिन्होंने [भावाः] तत्वों (जीवादिक सकल पदार्थों) को [प्रकाशिताः] प्रकाशित किया ।



+ आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी को नमस्कार -

जे परमप्पु णियंति मुणि परम-समाहि धरेवि
परमाणंदह कारणिण तिण्णि वि ते वि णवेवि ॥७॥

अन्वयार्थ : [ये मुनयः] जो [मुनयः] मौन (मुनि) [परमसमाधिं] परमसमाधि को [धृत्वा] धारण कर [परमानंदस्य कारणेन] परमसुख के लिए [परमात्मानं पश्यन्ति] परमात्मा को देखते हैं [त्रीन् अपि] तीनों ही आचार्य, उपाध्याय, साधु, [तान् अपि] उन्हें भी [नत्वा] नमस्कार हो ।



+ प्रभाकरभट्ट द्वारा विनती -

भाविं पणविवि पंच-गुरु सिरि-जोइंदु-जिणाउ
भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ ॥८॥

अन्वयार्थ : [भावेन पञ्चगुरुन् प्रणम्य] भावों से पंच-परमेष्ठियों को नमस्कार कर [भट्टप्रभाकरेण] प्रभाकरभट्ट [भावं विमलं कृत्वा] अपने परिणामों को निर्मल करके [श्रीयोगीन्द्रजिनः] श्रीयोगीन्द्रदेव से [विज्ञापितः] शुद्धात्मतत्त्व के जानने के लिये महाभक्ति से विनती करते हैं ॥८॥



+ विनती -

गउ संसारि वसंताहँ सामिय कालु अणंतु
पर मइँ किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु ॥९॥

अन्वयार्थ : [हे स्वामिन्] हे स्वामी, [संसारे वसतां] इस संसार में रहते हुए [अनंतः कालः गतः] अनंतकाल बीत गया, [परं] लेकिन [मया किमपि सुखं] मैंने कुछ भी सुख [न प्राप्तं] नहीं पाया [महत् दुखं एव प्राप्तं] महान् दुःख ही पाया ।



+ परमात्मा के कथन की विनती -

चउ-गइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्पउ कोइ
चउ-गइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि ॥१०॥

अन्वयार्थ : [चतुर्गतिदुःखैः] चारों गतियों के दुःखों से [तप्तानां] दुखीयों के लिए [चतुर्गतिदुःखविनाशकरः] चार गतियों के दुःखों का विनाश करनेवाला [यः कश्चित्] जो कोई [परमात्मा] चिदानंद परमात्मा है, [तमपि] उसको [प्रसादेन कथय] कृपा करके कहिए ।



+ तीन प्रकार के आत्मा को कहने की प्रतिज्ञा -

पुणु पुणु पणविवि पंच-गुरु भावें चित्ति धरेवि
भट्टपहायर णिसुणि तुहुँ अप्पा तिविहु कहेवि ॥११॥

अन्वयार्थ : [पुनः पुनः पञ्चगुरुन् प्रणम्य] बारम्बार पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार की [भावेन] भावना [चित्ते धृत्वा] मन में धारण करके [त्रिविधं] तीन प्रकार के [आत्मानं] आत्मा को [कथयामि] कहता हूँ, सो हे प्रभाकरभट्ट, [त्वं निश्चय] तू निश्चय से सुन ।



+ तीन प्रकार के आत्मा को जानने का प्रयोजन -

अप्पा ति-विहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ मुणि सण्णार्णे णाणमउ जो परमप्प-सहाउ ॥१२॥

अन्वयार्थ : [आत्मानं त्रिविधं मत्वा] आत्मा को तीन प्रकार का जानकर [मूढं भावम्] अज्ञान (बहिरात्म स्वरूप) भाव को [लघु मुञ्च] शीघ्र ही छोड़, और [स्वज्ञानेन] अपने को (स्वसंवेदन) ज्ञान से [मन्यस्व] जानकर (अंतरात्मा होकर) [ज्ञानमयः] ज्ञानमय (केवलज्ञान स्वरूप) हो [यः परमात्मस्वभावः] जो कि परमात्मा का स्वभाव है ।



+ बहिरात्मा -

मूढु वियक्खणु बंभु परु अप्पा ति-विहु हवेइ देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढु हवेइ ॥१३॥

अन्वयार्थ : [मूढः] अज्ञानी बहिरात्मा, [विचक्षणः] अंतरात्मा [ब्रह्मा परः] और परमात्मा इसप्रकार आत्मा [त्रिविधो भवति] तीन तरह का है, [यः] जो [देहमेव] देह को ही [आत्मानं मनुते] आत्मा मानते हैं, [स जनः] वे लोग [मूढः भवति] बहिरात्मा हैं ।



+ अन्तरात्मा -

देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ परम-समाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ॥१४॥

अन्वयार्थ : [यः परमात्मानं] जो परमात्मा को [देहविभिन्नं ज्ञानमयं पश्यति] शरीर से जुदा ज्ञानमय देखता है, [स एव] वही [परमसमाधिपरिस्थितः] परम-समाधि में स्थित [पण्डितः भवति] अन्तरात्मा है ।



+ परमात्मा -

अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्के जेण मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण ॥१५॥

अन्वयार्थ : [येन कर्मविमुक्तेन] जिसने ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश करके [सकलमपि परं द्रव्यं मुक्त्वा] और सब ही परद्रव्यों को छोड़ करके [ज्ञानमयः आत्मा लब्धः] ज्ञानमयी आत्मा पाया है, [तं मनसा] उसको मन से [परं मन्यस्व] परमात्मा जानो ।



तिहुयण-वंदिउ सिद्धि-गउ हरि-हर झायहिँ जो जि
लक्खु अलक्खेँ धरिवि थिरु मुणि परमप्पउ सो जि ॥१६॥

अन्वयार्थ : [त्रिभुवनवंदितं] तीनलोक द्वारा वंदनीय [सिद्धिगतं] सिद्धि प्राप्त [हरिहराः] इन्द्र, नारायण आदि [यं एव ध्यायन्ति] जिसे ध्यावते हैं, [लक्ष्यं अलक्ष्ये] निर्विकल्प चित्त में [स्थिरं धृत्वा] स्थिर होकर [तमेव] तू भी [परमात्मानं मन्यस्व] उस परमात्मा को जान ।



+ लक्ष्य के लक्षण -

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद-सहाउ
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ॥१७॥

अन्वयार्थ : [नित्यः निरञ्जनः ज्ञानमयः] अविनाशी, रागादिक उपाधि से रहित, केवलज्ञानमयी और [परमानंदस्वभावः] परमानंद स्वाभावी [यः ईद्रशः सः] जो ऐसा है, वही [शान्तः शिवः] शांतरूप और शिवस्वरूप है, [तस्य भावं जानीहि] उसे ही स्वभाव जान ।



+ शान्त और शिव -

जो णिय-भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ॥१८॥

अन्वयार्थ : [यः निज भावं न परिहरति] जो (अनंतज्ञानादिरूप) अपने भावों को नहीं छोड़ता [यः परभावं न लाति] और जो काम-क्रोधादिरूप पर-भावों को ग्रहण नहीं करता, [सकलमपि] समस्त को ही (तीन लोक तीन काल की सब चीजों को) [परं नित्यं जानाति] केवल हमेशा जानता है, [सः शिवः शांतः भवति] वही शिवस्वरूप तथा शांतस्वरूप है ।



+ निरञ्जन -

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु ॥१९॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ॥२०॥

अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ॥२१॥

अन्वयार्थ : [यस्य वर्णः न गंधः रसः न] जिसके रंग नहीं, गंध, रस नहीं, [यस्य शब्दः न स्पर्शः न] जिसके शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, [यस्य जन्म न मरणं नापि] जिसके जन्म नहीं, मरण भी नहीं, [तस्य निरंजनं नाम] उसका निरंजन नाम है । [यस्य क्रोधः न] जिसके क्रोध नहीं, [मोहः मदः न] मोह तथा मद नहीं, [यस्य माया न मानः न] जिसके माया व मान नहीं, और [यस्य] जिसके [स्थानं न] ध्यान के स्थान (नाभि, हृदय, मस्तक, आदि) नहीं, [ध्यानं न] चित्त के रोकनेरूप ध्यान नहीं, [स एव] उसे भी निरंजन जानो । [यस्य पुण्यं न पापं न अस्ति] जिसके पुण्य नहीं, तथा पाप नहीं, [हर्षः विषादः न] हर्ष व शोक नहीं, [यस्य एकः अपि दोषः] और जिसके (क्षुधा-पिपासा आदि) एक भी दोष नहीं, [स एव निरंजनः भावय] उसी को निरंजन जान ।



+ परमात्मा - ध्यान के साधन नहीं -

जासु ण धारणु धेउ ण वि जासु ण जंतु ण मंतु
जासु ण मंडलु मुद्द ण वि सो मुणि देउँ अणंतु ॥२२॥

अन्वयार्थ : [यस्य धारणा न] जिसके (कुंभक, पूरक, रेचकनामवाली) वायुधारणादिक नहीं, [ध्येयं नापि] (प्रतिमा आदि) ध्यान करने योग्य पदार्थ भी नहीं, [यस्य यन्त्रः न] जिसके (अक्षरों की रचनारूप स्तंभन मोहनादि विषयक) यंत्र नहीं, [मन्त्रः न] (अनेक तरहके अक्षरोंके बोलनेरूप) मंत्र नहीं, [यस्य मण्डलं न] और जिसके (जलमंडल, वायुमंडल, अग्निमंडल, पृथ्वीमंडलादिक) पवन के भेद नहीं, [मुद्रा न] (गारुडमुद्रा, ज्ञानमुद्रा आदि) मुद्रा नहीं, [तं अनन्तम् देवम् मन्यस्व] ऐसा अविनाशी परमात्मदेव जानो ।



+ परमात्मा - ज्ञान का साधन नहीं -

वेयहिँ सत्थहिँ इंदियहिँ जो जिय मुणहु ण जाइ
णिम्मल-झाणहँ जो विसउ सो परमप्पु अणाइ ॥२३॥

अन्वयार्थ : [वेदैः] वेद से, [शास्त्रैः] शास्त्र से, [इन्द्रियैः यः मन्तुं न याति] इंद्रिय (और मन) से भी जो जाना नहीं जाता, [यः निर्मलध्यानस्य विषयः] जो निर्मल ध्यान का विषय है, [स अनादिः परमात्मा] वही आदि अंत रहित परमात्मा है ।



+ परमात्मा - अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमयी -

केवल-दंसण -णाणमउ केवल-सुख सहाउ केवल-वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ ॥२४॥

अन्वयार्थ : [यः केवलदर्शन ज्ञानमयः] जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञानमयी, [केवलसुखस्वभावः] अनन्तसुख स्वभावी, [केवलवीर्यः] अनन्तवीर्यमयी है, [स एव परापरभावः मन्यस्व] उसे ही लोक और परलोक में उत्कृष्ट (परमात्मा) मानो ।



+ परमात्मा - शरीर रहित लोक के शिखर पर स्थित -

एयहिँ जुत्तउ लक्खणहिँ जो परु णिक्कलु देउ सो तहिँ णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहँ झेउ ॥२५॥

अन्वयार्थ : [एतैः लक्षणैः युक्तः] उन लक्षणों से सहित [परः निष्कलः] सबसे उत्कृष्ट शरीर-रहित, [देवः यः सः] जो देव वही [तत्र परमपदे] उस लोक के शिखर पर [निवसति यः] विराजमान है, जो कि [त्रैलोक्यस्य ध्येयः] तीन लोक का ध्येय है ।



+ परमात्मा - शरीर में स्थित -

जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिँ णिवसइ देउ तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं मं करि भेउ ॥२६॥

अन्वयार्थ : [यादृशः निर्मलः ज्ञानमयः] जैसा निर्मल केवलज्ञानमय [देवः सिद्धौ] देव सिद्ध-गति में [निवसति] रहता है, [ताद्रशः] वैसा ही [परः ब्रह्मा] परम-ब्रह्म (परमात्मा) [देहे] शरीर में [निवसति] तिष्ठता है, [भेदम् मा कुरु] भेद मत कर ।



+ परमात्मा - अंतर-दृष्टि के प्रेरणा -

जें दिट्ठें तुट्ठंति लहु कम्मइँ पुव्व-कियाइँ सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ ॥२७॥

अन्वयार्थ : [येन द्रष्टेन लघु] जिसे देखने से शीघ्र ही [पूर्वकृतानि कर्माणि] पूर्व-कृत कर्म [त्रुटयन्ति] चूर्ण हो जाते हैं, [तं परं] उस परमात्मा के [देहं वसन्तं] देह में बसते हुए भी [हे योगिन्] हे योगी [किं न जानासि] तू क्यों नहीं जानता ?



+ [परमात्मा - शारीरिक और मानसिक सुख-दुःख रहित -

जित्थु ण इंदिय-सुह-दुहइं जित्थु ण मण-वावारु
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं अण्णु परिं अवहारु ॥२८॥

अन्वयार्थ : [यत्र इन्द्रियसुखदुःखानि न] जहाँ इन्द्रिय-जनित सुख-दुःख नहीं, [यत्र मनोव्यापारः न] जहाँ मन का व्यापार नहीं, [तं हे जीव त्वं] उसे हे जीव तू [आत्मानं मन्यस्व] आत्मा मान, [अन्यत्परम् अपहर] अन्य सबको छोड़ ।



+ [परमात्मा - देह में रहते हुए भी स्वभाव में स्थित -

देहादेहहिं जो वसइ भेयाभेय-णएण
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं किं अण्णें बहुएण ॥२९॥

अन्वयार्थ : [यः भेदाभेदनयेन देहादेहयोः वसति] जो व्यवहारनय से देह में और निश्चयनय से आत्म-स्वभाव में ठहरा हुआ है, [तं हे जीव त्वं] उसे हे जीव, तू [आत्मानं मन्यस्व] परमात्मा जान, [अन्येन बहुना किम्] अन्य से क्या (प्रयोजन) ?



+ भेद-ज्ञान की प्रेरणा -

जीवाजीव म एक्कु करि लक्खण-भेएँ भेउ
जो परु सो परु भणमि मुणि अप्पा अप्पु अभेउ ॥३०॥

अन्वयार्थ : [जीवाजीवौ एकौ मा कार्षीः] जीव और अजीव को एक मतकर [लक्षणभेदेन भेदः] लक्षण के भेद से भेद कर [यत्परं तत्परं मन्यस्व] जो पर हैं उनको पर जान [च आत्मनः आत्मना अभेदः] और आत्मा का अपने से अभेद जान [भणामि] ऐसा मैं कहता हूँ ।



+ आत्मा का लक्षण -

अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्ति-विरहिउ चिमित्तु
अप्पा इंदिय-विसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु ॥३१॥

अन्वयार्थ : [आत्मा] आत्मा [अमनाः] मन से रहित, [अनिन्द्रियः] इन्द्रिय-रहित, [ज्ञानमयः] ज्ञानमयी, [मूर्तिविरहितः] अमूर्तीक, [चिन्मात्रः] चेतनामात्र [इन्द्रियविषयः नैव] इन्द्रियों का विषय नहीं है, [एतत् लक्षणं] ये लक्षण [निरुक्तम्] कहे गये हैं ।



+ ध्यान की विधि और उसका फल -

भव-तणु-भोय-विरत्त-मणु जो अप्पा झाएइ तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टेइ ॥३२॥

अन्वयार्थ : [यः भवतनुभोगविरक्तमनाः] जो संसार, शरीर और भोगों में विरक्त मन हुआ [आत्मानं ध्यायति] आत्मा को ध्याता है, [तस्य गुर्वी सांसारिकी वल्ली] उसकी मोटी संसाररूपी बेल [त्रुटयति] टूट जाती है ।



+ देह में ही परमात्मा का निवास -

देहादेवलि जो वसइ देउ अणाइ-अणंतु केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥३३॥

अन्वयार्थ : [यः देहदेवालये वसति] जो देहरूपी देवालय में बसने वाला, [देवः अनाद्यनन्तः] पूज्य, अनादि-अनंत, [केवलज्ञानस्फुरत्तनुः] केवलज्ञान से स्फुरायमान, [सः परमात्मा निर्भ्रान्तः] वही परमात्मा है, इसमें कुछ संशय नहीं ।



+ परमात्मा का एक अद्भुत लक्षण -

देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमें देहु वि जो जि देहें छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ॥३४॥

अन्वयार्थ : [य एव देहे वसन्नपि] जो देह में रहता हुआ भी [नियमेन देहमपि] नियम से शरीर को [नैव स्पृशति] नहीं स्पर्श करता, [देहेन यः अपि] देह से वह भी [नैव स्पृश्यते] नहीं छुआ जाता [तमेव] उसी को [परमात्मानं मन्यस्व] परमात्मा जान ।



+ परमात्मा - समभाव द्वारा परम आनन्द की प्राप्ति -

जो सम-भाव -परिट्ठियहं जोइहँ कोइ फुरेइ परमाणंदु जणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥३५॥

अन्वयार्थ : [समभावप्रतिष्ठितानां योगिनां] समभाव में परिणत योगियों के [परमानन्दं जनयन्] परम आनन्दको उत्पन्न करता हुआ [यः कश्चित् स्फुरति] जो कोई प्रकट होता है, [स स्फुटं परमात्मा भवति] वही स्पष्ट परमात्मा है ।



+ आत्मा का परम आत्मा स्वरूप -

कम्म-णिबद्धु वि जोइया देहि वसंतु वि जो जि
होइ ण सयलु कया वि फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥३६॥
अन्वयार्थ : [योगिन् यः] हे योगी जो यह (परमात्मा) [कर्मनिबद्धोऽपि] यद्यपि कर्मों से बँधा है,
[देहे वसन्नपि] देह में रहता भी है, [कदापि सकलः न भवति] परंतु कभी देहरूप नहीं होता,
[तमेव परमात्मानं स्फुटं मन्यस्व] तू उसी को निश्चित परमात्मा जान ।



+ पूर्व कथन की पुष्टि -

जो परमत्थेँ णिक्कलु वि कम्म-विभिण्णउ जो जि
मूढा सयलु भणंति फुडु मुणि परमप्पउ सो जि ॥३७॥
अन्वयार्थ : [यः परमार्थेन] जो परमार्थ से [निष्कलोऽपि] शरीर-रहित, [कर्मविभिन्नोऽपि]
कर्मों से जुदा है, तो भी [मूढाः सकलं] मूर्ख शरीरस्वरूप ही [स्फुटं भणन्ति] स्पष्ट मानते हैं,
[तमेव परमात्मानं मन्यस्व] तू उसी को परमात्मा जान ।



+ परमात्मा - केवलज्ञान में स्वयं प्रतिभासित -

गयणि अणंति वि एक्क उडु जेहउ भुयणु विहाइ
मुक्कहँ जसु पए बिंबियउ सो परमप्पु अणाइ ॥३८॥
अन्वयार्थ : [गगने अनन्तेऽपि] अनंत आकाश में [एकं उडु यथा] एक नक्षत्र के जैसे [भुवनं
विभाति] तीन लोक भासता है [मुक्तस्य यस्य पदे] जिस मुक्त के केवलज्ञान में [बिम्बितं सः
परमात्मा अनादिः] बिंबित वह परमात्मा अनादि है ।



+ परमात्मा - ध्यान का ध्येय -

जोइय-विंदहिँ णाणमउ जो झाइज्जइ झेउ
मोक्खहँ कारणि अणवरउ सो परमप्पउ देउ ॥३९॥
अन्वयार्थ : [योगीन्द्रवृन्दैः] योगियों द्वारा वन्दित [ज्ञानमयः यो] ज्ञानमयी जो [मोक्षस्य
कारणे] मोक्ष के निमित्त [अनवरतं ध्यायते ध्येयः] निरन्तर ध्यान का ध्येय, [सः परमात्मा
देवः] वह परमात्मदेव है ।



+ परमात्मा - संसार को उपजाता है -

जो जिउ हेउ लहेवि विहि जगु बहु-विहउ जणेइ लिंगत्तय-परिमंडियउ सो परमप्पु हवेइ ॥४०॥

अन्वयार्थ : [यः जीवः] जो जीव [विधिं हेतुं लब्ध्वा] विधिरूप (कर्म) कारणों को पाकर [बहुविधं जगत् जनयति] अनेक प्रकार के जगत को पैदा करता है [लिङ्गत्रयपरिमण्डितः] तीन लिंगों (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) को धारण करता है, [सः परमात्मा भवति] वही परमात्मा है ।



+ परमात्मा - संसार में रहते हुए भी संसार से परे -

जसु अब्भंतरि जगु वसइ जग-अब्भंतरि जो जि जगि जि वसंतु वि जगु जि ण वि मुणि परमप्पउ सो जि ॥४१॥

अन्वयार्थ : [यस्य अभ्यन्तरे] जिसके अन्दर में [जगत् वसति] संसार बसता है, [जगदभ्यन्तरे] और जगत् में वह बस रहा है, [जगति एव वसन्नपि] संसार में निवास करता हुआ भी [जगत् एव नापि] जगत जिसमें नहीं, [तमेव परमात्मानं मन्यस्व] उसे ही तू परमात्मा जान ।



+ परमात्मा - उत्कृष्ट समाधि / तप द्वारा ही जो जाना जाता है -

देहि वसंतु वि हरि-हर वि जं अज्ज वि ण मुणंति परम-समाहि-तवेण विणु सो परमप्पु भणंति ॥४२॥

अन्वयार्थ : [देहे वसन्तमपि] शरीर में बसने पर भी [यं हरिहरा अपि] जिसको नारायण / रूद्र सरीखे चतुर पुरुष भी [परमसमाधितपसा विना] परमसमाधिभूत महातप के बिना [अद्य अपि न जानन्ति] अबतक भी नहीं जानते, [तं परमात्मानं भणन्ति] उसको परमात्मा कहा है ।



+ परमात्मा - उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त -

भावाभावहिँ संजुवउ भावाभावहिँ जो जि । देहि जि दिट्ठउ जिणवरहिँ मुणि परमप्पउ सो जि ॥४३॥

अन्वयार्थ : [य एव भावाभावाभ्यां संयुक्तः] जिसे उत्पाद-व्यय से सहित और [भावाभावाभ्यां] उत्पाद और विनाश से रहित [जिनवरैः] जिनवरदेव ने [देहे अपि द्रष्टः] देह में ही देख लिया, [तमेव परमात्मानं मन्यस्व] उसी को तू परमात्मा जान ।



+ शरीर और आत्मा के दृढ़ सम्बन्ध -

**देहि वसंतें जेण पर इंदिय-गामु वसेइ
उव्वसु होइ गएण फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥४४॥**

अन्वयार्थ : [येन परं देहे वसता] जिसके देह में रहने से पर ही [इन्द्रियग्रामः वसति] इन्द्रिय गाँव बसता है, [उद्धसः भवति गतेन] जाने पर उजड़ जाता है [स्फुटं स परमात्मा भवति] निश्चय से वह परमात्मा है ।



+ देह से आत्मा का विशिष्ट महत्व -

**जो णिय-करणहिँ पंचहिँ वि पंच वि विसय मुणेइ
मुणिउ ण पंचहिँ पंचहिँ वि सो परमप्पु हवेइ ॥४५॥**

अन्वयार्थ : [यः निजकरणैः पञ्चभिरपि] जो अपनी पाँचों इन्द्रियो द्वारा [पञ्चापि विषयान् जानाति] पाँचों ही विषयों को जानता है, [पञ्चभिः] पाँच इन्द्रियों के [पञ्चभिरपि मतो न] पाँचों विषयों से भी जो नहीं जाना जाता, [स परमात्मा भवति] वही परमात्मा है ।



+ परमात्मा का वीतराग स्वरूप -

**जसु परमत्थें बंधु णवि जोइय ण वि संसारु
सो परमप्पु जाणि तुहुँ मणि मिल्लिवि ववहारु ॥४६॥**

अन्वयार्थ : [हे योगिन् यस्य] हे योगी, जिसके [परमार्थेन संसारः नैव] निश्चय से संसार नहीं, [बन्धोनापि] बंध भी नहीं, [तं परमात्मनं त्वं] उस परमात्मा को तू [मनसि व्यवहारम् मुक्त्वा जानीहि] मन से व्यवहार मुक्त जान ।



+ परमात्मा के ज्ञान के स्थान का कथन -

**णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि
मुक्कहँ जसु पय बिंबियउ परम-सहाउ भणेवि ॥४७॥**

अन्वयार्थ : [विल्लि तिष्ठति] बेल (लता) ठहरती है [यथा] जैसे, [मुक्तानां ज्ञानं] मुक्त (जीवों) का ज्ञान [बलेपि] शक्ति होने पर भी [ज्ञेयाभावे तिष्ठति] ज्ञेय के अभाव में ठहर जाता है, [यस्य पदे] उस केवलज्ञान द्वारा [बिम्बितं] प्रतिभासित [परमस्वभावं] अपना उत्कृष्ट स्वभाव [भणित्वा] जानो ।



+ कर्म बंधन से मुक्त परमात्मा का स्वरूप -

**णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि
मुक्कहँ जसु पय बिंबियउ परम-सहाउ भणेवि ॥४८॥**

अन्वयार्थ : [कर्मभिः सदापि] कर्म सदा ही [निजनिजकार्यं जनयद्भिरपि] अपने अपने कार्य को प्रगट करते हैं; [यस्य किमपि] जिसमें कुछ भी [न जनितः नैव हतः] न उत्पन्न और न विनाश हो, [तं परमात्मानं भावय] उसी परमात्मा की भावना कर ।



+ कर्म बंधन से मुक्त परमात्मा का स्वरूप -

**कम्म-णिबद्धु वि होइ णवि जो फुडु कम्मु कया वि
कम्मु वि जो ण कया वि फुडु सो परमप्पउ भावि ॥४९॥**

अन्वयार्थ : [यः कर्मनिबद्धोऽपि] जो कर्मों से बँधा हुआ होने पर भी [कदाचिदपि कर्म नैव स्फुटं भवति] कभी भी कर्मरूप नहीं होता, [कर्म अपि यः] और कर्म भी जिस रूप [कदाचिदपि स्फुटं न] कभी भी स्पष्ट नहीं होते, [तं परमात्मानं भावय] उस परमात्मा को जान ।



+ आत्मा क्या है -

**कि वि भणंति जिउ सव्वगउ जिउ जडु के वि भणंति
कि वि भणंति जिउ देह-समु सुण्णु वि के वि भणंति ॥५०॥**

अन्वयार्थ : [केऽपि जीवं सर्वगतं भणंति] कोई जीव को सर्वव्यापक कहते हैं, [केऽपि जीवं जडं भणंति] कोई जीव को जड़ कहते हैं, [केऽपि शून्यं अपि भणंति] कोई शून्य भी कहते हैं, [केऽपि जीवं देहसमं भणंति] कोई जीव को देहसमान कहते हैं ।



+ आत्मा का स्वरूप -

**अप्पा जोइय सव्व-गउ अप्पा जडु वि वियाणि
अप्पा देह-पमाणु मुणि अप्पा सुण्णु वियाणि ॥५१॥**

अन्वयार्थ : [हे योगिन् आत्मा सर्वगतः] हे योगी, आत्मा सर्वगत भी है, [आत्मा जडोऽपि विजानीहि] आत्मा को जड़ भी जान, [आत्मानं देहप्रमाणं मन्यस्व] आत्मा को देह बराबर मान, [आत्मानं शून्य विजानीहि] आत्मा को शून्य भी जान ।



+ आत्मा का सर्वव्यापक स्वरूप -

**अप्पा कम्म - विवज्जियउ केवल-णाणें जेण
लोयालोउ वि मुणइ जिय सव्वगु वुच्चइ तेण ॥५२॥**

अन्वयार्थ : [आत्मा कर्मविवर्जितः] आत्मा कर्म-रहित हुआ [केवलज्ञानेन येन] केवलज्ञान से जिस कारण [लोकालोकमपि मनुते] लोक और अलोक को जानता है [तेन जीव] इसीलिये जीव को [सर्वगः उच्यते] सर्वगत कहा है ।



+ आत्मा का जड स्वरूप -

**जे णिय-बोह -परिट्ठियहँ जीवहँ तुट्टइ णाणु
इंदिय-जणियउ जोइया तिं जिउ जडु वि वियाणु ॥५३॥**

अन्वयार्थ : [येन निजबोधप्रतिष्ठितानां जीवानां] चूंकि आत्म-ज्ञान में ठहरे हुए (केवलज्ञानी) जीवों के [इन्द्रियजनितं ज्ञानम्] इन्द्रिय-जनित ज्ञान [व्रुट्यति हे योगिन्] नष्ट हो जाता है, हे योगी, [तेन जीवं जडमपि विजानीहि] उसी कारण से जीव को जड़ भी जानो ।



+ आत्मा का चरम शरीर प्रमाणरूप स्वरूप -

**कारण - विरहिउ सुद्ध-जिउ वड्डइ खिरइ ण जेण
चरम-सरीर-पमाणु जिउ जिणवर बोल्लहिं तेण ॥५४॥**

अन्वयार्थ : [येन कारणविरहितः] जिस हेतु कारण के अभाव में [शुद्धजीवः न वर्धते क्षरति] शुद्ध-जीव न तो बढ़ता है, और न घटता है, [तेन जिनवराः] इसी कारण जिनेन्द्रदेव [जीवं चरमशरीरप्रमाणं ब्रुवन्ति] जीव को चरम-शरीर-प्रमाण कहते हैं ।



+ आत्मा के शून्य स्वरूप का कथन -

**अट्ट वि कम्मइँ बहुविहइँ णवणव दोस वि जेण
सुद्धहँ एक्कुवि अत्थि णवि सुण्णु वि वुच्चइ तेण ॥५५॥**

अन्वयार्थ : [येन अष्टौ अपि] जिस कारण आठों ही [बहुविधानि कर्माणि] अनेक भेदोंवाले कर्म [नवनव दोषा अपि एकः अपि] अठारह ही दोष इनमें से एक भी [शुद्धानां नैव अस्ति] शुद्धात्माओं में नहीं है, [तेन शून्योऽपि भण्यते] इसलिये शून्य भी कहा जाता है ।



अप्पा जणियउ केण ण वि अप्पेँ जणियउ ण कोइ
दव्व-सहावेँ णिच्चु मुणि पज्जउ विणसइ होइ ॥५६॥

अन्वयार्थ : [आत्मा केन अपि न जनितं] आत्मा किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ, [आत्मना जनितं न किमपि] और आत्मा से कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ, [द्रव्यस्वभावेन नित्यं मन्यस्व] द्रव्य-स्वभाव को नित्य जानो, [पर्यायः विनश्यति भवति] पर्याय नष्ट होती है ।



+ आत्मा के लक्षण का स्पष्टीकरण -

तं परियाणहि दव्वु तुहुँ जं गुण-पज्जय-जुत्तु
सह-भुव जाणहि ताहुँ गुण कम-भुव पज्जउ वुत्तु ॥५७॥

अन्वयार्थ : [यत् गुणपर्याययुक्तं] जो गुण और पर्यायों से सहित है, [तत् त्वं द्रव्यं परिजानिहि] उसको तू द्रव्य जान, [सहभुवः तेषां गुणाः] सदा साथ हों उन्हें गुण, [क्रमभुवः पर्यायाः उक्ताः] और जो क्रम से हों उन्हें पर्याय कहा है ।



+ आत्मा द्रव्य और उसके गुण -

अप्पा बुज्झहि दव्वु तुहुँ गुण पुणु दंसणु णाणु
पज्जय चउ-गइ-भाव तणु कम्म-विणिम्मिय जाणु ॥५८॥

अन्वयार्थ : [त्वं आत्मानं द्रव्यं] तू आत्मा को द्रव्य, [पुनः दर्शनं ज्ञानम् गुणौ बुध्यस्व] और दर्शन ज्ञान को गुण जान, [चतुर्गतिभावान् तनुं] चार गतियों के भाव तथा शरीर को [कर्मविनिर्मितान् पर्यायान् जानीहि] कर्म-जनित पर्याय समझ ।



+ आत्मा और कर्म का परस्पर सम्बन्ध -

जीवहँ कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण
कम्मेँ जीउ वि जणियउ णवि दोहिँ वि आइ ण जेण ॥५९॥

अन्वयार्थ : [हे जीव] हे आत्मा [जीवानां कर्माणि] जीवों के कर्म [अनादीनि] अनादि काल से हैं, [तेन कर्म न जनितं] उस जीव ने कर्म नहीं उत्पन्न किये, [कर्मणा अपि जीवः नैव जनितः] कर्मों ने भी जीव नहीं उपजाया, [येन द्वयोः अपि] क्योंकि दोनों का ही [आदिः न] आदि नहीं है ।



+ सभी जीवों का प्राण कर्म -

एहु ववहारें जीवउउ हेउ लहेविणु कम्मु
बहुविह-भावेँ परिणवइ तेण जि धम्मु-अहम्मु ॥६०॥

अन्वयार्थ : [एष जीवः व्यवहारेण] यह जीव उपचार से [कर्म हेतुं लब्ध्वा] कर्मरूप कारण को पाकर [बहुविधभावेन परिणमित] अनेक विकल्परूप परिणमता है । [तेन एव धर्मः अधर्मः] इसी से पुण्य और पाप रूप होता है ।



+ कर्म के कारण जीव को स्वभाव-लाभ नहीं -

ते पुणु जीवहँ जोइया अट्ट वि कम्म हवंति ।
जेहिँ जि झंपिय जीव णवि अप्प-सहाउ लहंति ॥६१॥

अन्वयार्थ : [योगिन्] हे योगी, [तानि पुनः कर्माणि] वे फिर कर्म [जीवानां अष्टौ अपि] जीवों के आठ ही [भवन्ति] होते हैं, [यैः एव झंपिताः] जिन कर्मों से ही आच्छादित (ढँके हुए) [जीवाः] ये जीव [आत्मस्वभावं] अपने सम्यक्त्वादि आठ गुणरूप स्वभाव को [नैव लभन्ते] नहीं पाते ।



+ विषय-कषायों में लिप्तता से कर्म-बंध -

विसय-कसायहिँ रंगियहँ ते अणुया लगगंति ।
जीव-पएसेहँ मोहियहँ ते जिण कम्म भणंति ॥६२॥

अन्वयार्थ : [विषयकषायैः रञ्जितानां] विषय-कषायों में लिप्त [मोहितानां] मोही जीवों के [जीवप्रदेशेषु] जीव के प्रदेशों में [ये अणवः लगन्ति] जो परमाणु लगते (बंधते) हैं, [तान्] उन्हें (उन स्कंधों को) [जिनाः कर्म भणन्ति] जिनेन्द्रदेव कर्म कहते हैं ।



+ इन्द्रियाँ, मन, समस्त विभाव, दुःख कर्म-जनित -

पंच वि इंदिय अणु मणु अणु वि सयल-विभाव ।
जीवहँ कम्मइँ जणिय जिय अणु वि चउगइ-ताव ॥६३॥

अन्वयार्थ : [पंचापि इन्द्रियाणि अन्यत्] पाँचों ही इन्द्रियाँ भिन्न हैं, [मनः अपि सकलविभावः] मन और समस्त विभाव परिणाम [अन्यत्] अन्य हैं, [चतुर्गतितापाः अपि] तथा चारों गतियों के दुःख भी [अन्यत्] अन्य हैं, [जीव] हे जीव, ये सब [जीवानां] जीवों के [कर्मणा जनिताः] कर्म-जनित हैं ।



+ परमार्थ से दुःख-सुख कर्म जनित -

दुक्खु वि सुक्खु वि बहु-विहउ जीवहँ कम्मु जणेइ ।
अप्पा देक्खइ मुणइ पर णिच्छउ एउँ भणेइ ॥६४॥

अन्वयार्थ : [जीवानां बहुविधं] जीवों को अनेक प्रकार के [दुःखमपि सुखं अपि] दुःख और सुख दोनों ही [कर्म जनयति] कर्म उपजाता है; [आत्मा पश्यति] आत्मा देखता [परं मनुते] और जानता है, [एवं निश्चयः] इस प्रकार परमार्थ [भणति] कहता है ।



+ जिन्वचन को नहीं मानने का परिणाम -

सो णत्थि त्ति पएसो चउरासी-जोणि-लक्ख-मज्झम्मि ।
जिण वयणं ण लहंतो जत्थ ण डुलुडुल्लिओ जीवो ॥६५-१॥

अन्वयार्थ : [स नास्ति प्रदेशः इति प्रदेशः] ऐसा कोई भी प्रदेश (स्थान) नहीं है, कि [यत्र चतुरशीतियोनिलक्षमध्ये] जिस जगह चौरासी लाख योनियों में होकर [जिनवचनं न लभमानः] जिन-वचन को नहीं प्राप्त करता हुआ [जीवः न भ्रमितः] यह जीव नहीं भटका ।



+ परमार्थ से बन्ध और मोक्ष कर्मजनित -

बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ ॥६५॥

अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव ! [बंधमपि मोक्षमपि] बंध भी और मोक्ष भी [सकलं जीवानां] समस्त जीवों के [कर्म जनयति] कर्म-जनित है, [आत्मा किमपि] आत्मा कुछ भी [नैव करोति] नहीं करता, [एवं निश्चयः भणति] ऐसा परमार्थ कहता है ।



+ कर्म द्वारा ही जीव के लोक में भ्रमण -

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ ।
भुवणत्तयहँ वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥६६॥

अन्वयार्थ : हे जीव, यह आत्मा [पङ्गोः अनुहरति] पंगु के समान है, आप [न याति] न कहीं जाता है, [न आयाति] न आता है [भुवनत्रयस्य अपि मध्ये] तीनों लोक में इस जीव को [विधिः नयति] कर्म ही ले जाता है, [विधिः आनयति] कर्म ही ले आता है ।



+ द्रव्य-रूप परिवर्तित नहीं होता -

अप्पा अप्पु जि परु जि परु अप्पा परु जि ण होइ ।
परु जि कयाइ वि अप्पु णवि णियमें पभणहिं जोई ॥६७॥

अन्वयार्थ : आत्मा आत्मा ही है, पर (देहादि) पर ही हैं, आत्मा पर नहीं [भवति] होता, [पर एव] पर भी [कदाचिदपि] कभी भी आत्मा [नैव] नहीं होता, ऐसा [नियमेन योगिनः प्रभणन्ति] निश्चय से योगी कहते हैं ।



+ जीव के जन्म-मरण बंध-मोक्ष नहीं -

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थेँ जोइया जिणवरु एउँ भणेइ ॥६८॥

अन्वयार्थ : [योगिन् परमार्थेन] हे योगी, परमार्थ से [जीवः नापि उत्पद्यते] जीव न तो उत्पन्न होता है, [नापि म्रियते] न मरता है [च न बन्धं मोक्षं] और न बंध-मोक्ष को [करोति] करता [एवं जिनवरः भणति] ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं ।



+ जीव के जन्म-मरण-रोग, इन्द्रियाँ, वर्ण नहीं -

अत्थि ण उब्भउ जर-मरणु रोय वि लिंग वि वण्ण ।
णियमिं अप्पु वियाणि तुहुँ जीवहँ एक्क वि सण्ण ॥६९॥

अन्वयार्थ : [आत्मन्] हे जीव [जीवस्य उद्भवः न अस्ति] जीव के जन्म नहीं है, [जरामरणः रोगाः अपि] जरा (बुढ़ापा), मरण, रोग [लिंगान्यपि वर्णाः] इन्द्रियाँ, वर्ण [एका संज्ञा अपि] (आहारादिक) एक भी संज्ञा नहीं है [त्वं नियमेन विजानीहि] तू निश्चय जान ।



+ जन्म-बुढ़ापा-मरण, रोग, वर्ण देह के -

देहहँ उब्भउ जर-मरणु देहहँ वण्णु विचित्तु ।
देहहँ रोय वियाणि तुहुँ देहहँ लिंगु विचित्तु ॥७०॥

अन्वयार्थ : [त्वं देहस्य उद्भवः] तू देह के जन्म, [जरामरणं] बुढ़ापा, मरण, [देहस्य विचित्रः वर्णः] देह के अनेक तरह के (लाल-पीले आदि पाँच अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार) वर्ण, [देहस्य रोगान्] देह के (वात-पित्त आदि अनेक) रोग [देहस्य विचित्रम् लिङ्गं] देह के अनेक प्रकार के (स्त्री, पुरुष आदि अथवा यति अथवा इन्द्रिय और मन) लिंग को [विजानीहि] जान ।



+ जीव को अमर जानकर भय-मुक्त हो -

देहहँ पेक्खिवि जर-मरणु मा भउ जीव करेहि ।
जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाणु मुणेहि ॥७१॥

अन्वयार्थ : [जीव] हे जीव, [देहस्य जरामरणं] देह के बुढ़ापा या मरने को [दृष्ट्वा भयं मा कार्षीः] देखकर डर मत कर [यः अजरामरः] जो अजर-अमर [परः ब्रह्म] परम-ब्रह्म है, [तं आत्मानं मन्यस्व] उसको तू आत्मा जान ।



+ शरीर से ममत्व त्यागकर आत्मा को ध्या -

छिज्जउ भिज्जउ जाउ खउ जोइय एहु सरीरु ।
अप्पा भावहि णिम्मलउ जिं पावहि भव-तीरु ॥७२॥

अन्वयार्थ : [योगिन् इदं शरीरम् छिद्यतां] हे योगी, यह शरीर छिद जावे, [भिद्यतां] अथवा भिद जावे, [क्षयं यातु] नाश को प्राप्त होवे, [निर्मलं आत्मानं भावय] निर्मल आत्मा का ही ध्यान कर, [येन भवतीरम्] जिससे भवसागर का पार [प्राप्नोषि] पायेगा ।



+ पर-भाव और पर द्रव्य जीव स्वभाव से भिन्न -

कम्महँ केरा भावडा अण्णु अचेयणु दव्वु ।
जीव-सहावहँ भिण्णु जिय णियमिं बुज्झहि सव्वु ॥७३॥

अन्वयार्थ : हे जीव, [कर्मणः संबन्धिनः भावाः] कर्मों से सम्बंधित भाव और [अन्यत् अचेतनं द्रव्यम्] पर शरीरादिक अचेतन द्रव्य [सर्वम् नियमेन] इन सबको नियम से [जीवस्वभावात् भिन्नं बुध्यस्व] जीव-स्वभाव से भिन्न जानो ।



+ ज्ञानमयी भाव को छोड़कर अन्य सभी भाव को त्याग -

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ ।
सो छंडेविणु जीव तुहुँ भावहि अप्प-सहाउ ॥७४॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानमयं आत्मानं मुक्तवा] ज्ञानमयी आत्मा को छोड़कर [अन्यः परः भावः] अन्य जो पर भाव हैं, [जीव त्वं तं छंडयित्वा] हे जीव तू उनको छोड़कर [आत्मस्वभावम् भावय] आत्म-स्वभाव का चितवन कर ।



अटुहँ कम्महँ बाहिरउ सयलहँ दोसहँ चत्तु ।
दंसण-णाण-चरित्तमउ अप्पा भावि णिरुत्तु ॥७५॥

अन्वयार्थ : [अष्टभ्यः कर्मभ्यः बाह्यं] आठ कर्मों से रहित [सकलैः दोषैः त्यक्तम्] सब दोषों को त्यागकर [दर्शनज्ञानचारित्रमयं आत्मानं निश्चितम् भावय] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप निश्चितम् आत्मा का निश्चय से चिंतन कर ।



+ सम्यग्दृष्टि -

अप्पिं अप्पु मुणंतु जिंउ सम्मादिट्ठि हवेइ ।
सम्माइट्ठिउ जीवडउ लहु कम्मइँ मुच्चेइ ॥७६॥

अन्वयार्थ : [आत्मानं आत्मना] अपने को अपने से [जानन् जीवः] जाननेवाला जीव [सम्यग्दृष्टिः भवति] सम्यग्दृष्टि होता है, [सम्यग्दृष्टिः जीवः] और सम्यग्दृष्टि जीव [लघु कर्मणा मुच्यते] जल्दी कर्मों से छूट जाता है ॥७६॥



+ मिथ्यादृष्टि -

पज्जय-रत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ ।
बंधउ बहु-विह-कम्मडा जें संसारु भमेइ ॥७७॥

अन्वयार्थ : [पर्यायरक्तः जीवः] पर्याय में लीन जीव [मिथ्यादृष्टिः भवति] मिथ्यादृष्टि होता है, वह [बहुविधकर्माणि बध्नाति] अनेक प्रकार के कर्मों को बाँधता है, [येन संसारं भ्रमति] जिनसे संसार में भ्रमण करता है ॥७७॥



+ कर्म बलवान हैं -

कम्मइँ दिढ-घण-चिक्कणइँ गरुवइँ वज्ज-समाइँ ।
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिँ ताइँ ॥७८॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानविचक्षणं जीवं] ज्ञानी चतुर जीवों को [उत्पथे पातयंति] खोटे मार्ग में पटकने वाले [तानि कर्माणि] वे कर्म [दृढघनचिक्कणानि] बलवान हैं, बहुत हैं, चिकने (विनाश करने को अशक्य) हैं, [गुरुकाणि वज्रसमानि] भारी हैं, और वज्र के समान अभेद्य हैं ॥७८॥



+ मिथ्यात्वी का लक्षण -

जिउ मिच्छत्ते परिणमिउ विवरिउ तच्चु मुणेई ।
कम्म-विणिम्मिय भावडा ते अप्पाणु भणेइ ॥७९॥

अन्वयार्थ : [मिथ्यात्वेन परिणतः जीवः] मिथ्यात्व-रूप परिणत हुआ जीव [तत्त्वं विपरीतं मनुते] तत्त्व को विपरीत मानता हुआ, [कर्मविनिर्मितान् भावान्] कर्मों से रचे गये भाव [तान् आत्मानं भणति] उनको अपने कहता है ।



+ मिथ्यात्वी की मान्यता -

हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु ॥८०॥

अन्वयार्थ : [अहं श्यामः] मैं काला, [अहमेव विभिन्नः वर्णः] मैं ही अनेक वर्णवाला, [अहं तन्वंगः] मैं दुबला, [अहं स्थूलः] मैं मोटा, [एतं मूढं मन्यस्व] यह मूढ़ की मान्यता है ।



+ और भी -

हउँ वरु बंभणु वइसु हउँ हउँ खत्तिउ हउँ सेसु ।
पुरिसु णउँसर इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु ॥८१॥

अन्वयार्थ : [अहं वरः ब्राह्मणः] मैं सबमें श्रेष्ठ ब्राह्मण, [वैश्यः अहं] मैं वणिक, [अहं क्षत्रियः] मैं क्षत्रिय, [अहं शेषः] मैं शूद्र, [पुरुषः नपुंसकः स्त्री अहं] मैं पुरुष, स्त्री, नपुंसक [मूढः विशेषम् मनुते] मिथ्यादृष्टि अपने को इन भेदरूप मानता है ।



+ और भी -

तरुणउ बूढउ रूयडउ सूरउ पंडिउ दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवडउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥८२॥

अन्वयार्थ : [तरुणः वृद्धः रूपस्वी शूरः] मैं जवान, बुढ़ा, रूपवान, शूरवीर, [पण्डितः दिव्यः क्षपणकः] पंडित, सबमें श्रेष्ठ, दिगंबर [वन्दकः श्वेतपटः] बौद्ध-आचार्य, श्वेताम्बर, इत्यादि [सर्वम् मूढः मन्यते] सब मूढ़ मान्यता है ।



+ और भी -

जणणी जणणु वि कंत घरु पत्तु वि मित्तु वि दव्वु ।

माया-जालु वि अप्पणउ मूढउ मण्णइ सव्वु ॥८३॥

अन्वयार्थ : [जननी जननः अपि कान्ता] माता, पिता भी, स्त्री, [गृहं पुत्रः अपि मित्रमपि] घर, बेटा भी मित्र भी [द्रव्यं सर्व मायाजालमपि] धन, सर्व मायाजाल को [मूढः आत्मीयं मन्यते] अज्ञानी अपना मानता है ।



+ अज्ञान ही पाप -

दुक्खहँ कारणि जे विसय ते सुह-हेउ रमेइ ।

मिच्छाइट्ठिउ जीवडउ इत्थु ण काइँ करेइ ॥८४॥

अन्वयार्थ : [दुःखस्य कारणं] दुःख के कारण [ये विषयाः] जो इन्द्रिय-विषय, [तान् सुखहेतुन्] उनको सुख के कारण जानकर [रमते मिथ्यादृष्टिः जीवः] रमण करता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव [अत्र किं न करोति] इस संसार में क्या पाप नहीं करता ?



+ सम्यक्त्व की प्राप्ति -

कालु लहेविणु जोइया जिमु जिमु मोहु गलेइ ।

तिमु तिमु दंसणु लहइ जिउ णियमें अप्पु मुणेइ ॥८५॥

अन्वयार्थ : [योगिन् कालं लब्ध्वा] हे योगी, काल पाकर [यथा यथा मोहः गलति] जैसे जैसे मोह गलता है, [तथा तथा जीवः] तैसे तैसे [दर्शनं लभते] सम्यग्दर्शन की प्राप्ति द्वारा, [नियमेन आत्मानं मनुते] नियम से अपने (स्वरूप) को जानता है ।



+ आत्मा स्पर्श या वर्ण नहीं -

अप्पा गोरउ किण्हु ण वि अप्पा रत्तु ण होइ ।

अप्पा सुहुमु वि थूलु ण वि णाणिउ जाणैँ जोइ ॥८६॥

अन्वयार्थ : [आत्मा गौरः कृष्णः नापि] आत्मा सफेद, काला नहीं, [आत्मा रक्तः न भवति] आत्मा लाल नहीं, [आत्मा सूक्ष्मः अपि स्थूलः नैव] आत्मा सूक्ष्म और स्थूल भी नहीं ऐसा [ज्ञानी ज्ञानेन पश्यति] ज्ञानी पुरुष ज्ञान द्वारा देखता है ।



+ आत्मा के वर्ण या लिंग नहीं -

अप्पा बंभणु वइसु ण वि ण वि खत्तिउ ण वि सेसु ।

पुरिसु णउंसउ इत्थि ण वि णाणिउ मुणइ असेसु ॥८७॥

अन्वयार्थ : [आत्मा ब्राह्मणः वैश्यः नापि] आत्मा ब्राह्मण, वैश्य भी नहीं, [क्षत्रियः नापि] क्षत्रिय भी नहीं, [शेषः नापि] शुद्र भी नहीं, [पुरुषः नपुंसकः स्त्री नापि] पुरुष, नपुंसक, स्त्रीलिंगरूप भी नहीं, [ज्ञानी अशेषम् मनुते] ज्ञानी अपने को कुछ और ही जानता है ।



+ आत्मा के वेष नहीं -

अप्पा वंदउ खवणु ण वि अप्पा गुरउ ण होइ ।

अप्पा लिंगिउ एक्कु ण वि णाणिउ जाणइ जोइ ॥८८॥

अन्वयार्थ : [आत्मा वन्दकः क्षपणः नापि] आत्मा बौद्ध-आचार्य नहीं, दिगंबर, [आत्मा गुरवः न भवति] आत्मा श्वेताम्बर भी नहीं होती, [आत्मा एकः अपि लिंगी न] आत्मा कोई भी वेश-धारी नहीं, [ज्ञानी योगी जानाति] मात्र ज्ञान है, ऐसा योगी जानता है ।



+ आत्मा गुरु-शिष्यादिक भी नहीं -

अप्पा गुरु णवि सिस्सु णवि णवि सामिउ णवि भिच्चु ।

सूरउ कायरु होइ णवि णवि उत्तमु णवि णिच्चु ॥८९॥

अन्वयार्थ : [आत्मा गुरुः नैव] आत्मा गुरु नहीं, [शिष्य नैव] शिष्य नहीं, [स्वामी नैव भृत्यः नैव] स्वामी नहीं, नौकर नहीं, [शूरः कातरः नैव] शूरवीर नहीं, कायर नहीं, [उत्तमः नैव नीचः नैव भवति] उच्चकुली नहीं, और नीचकुली भी नहीं है ।



+ आत्मा मनुष्य-देव आदि नहीं -

अप्पा माणुसु देउ ण वि अप्पा तिरिउ ण होइ ।

अप्पा णारउ कहिँ वि णवि णाणिउ जाणइ जोइ ॥९०॥

अन्वयार्थ : [आत्मा मनुष्यः देवः नापि] आत्मा मनुष्य नहीं, देव नहीं, [आत्मा तिर्यग् न भवति] आत्मा पशु नहीं होता, [आत्मा नारकः कापि नैव] आत्मा नारकी भी कभी नहीं, [ज्ञानी योगी जानाति] ज्ञानी योगी जानते हैं ।



+ आत्मा पंडित मूर्ख आदि नहीं -

अप्पा पंडितु मुखु णवि णवि ईसरु णवि णीसु ।

तरुणउ बूढउ बालु णवि अण्णु वि कम्म-विसेसु ॥९१॥

अन्वयार्थ : [आत्मा पंडितः मूर्खः नैव] आत्मा पंडित व मूर्ख नहीं, [ईश्वरः नैव निःस्वः नैव] धनवान् नहीं दरिद्री भी नहीं, [तरुणः वृद्धः बालः] जवान, बूढ़ा और बालक, [अन्यः अपि कर्म विशेषः नैव] अन्य भी जो कर्म के उदय से विशेषता होती है, वह भी नहीं ।



+ आत्मा पुण्य-पापादि नहीं -

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्मु वि काउ ।

एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयण-भाउ ॥९२॥

अन्वयार्थ : [चेतनभावम् मुक्तवा] चेतनभाव को छोड़कर [पुण्यमपि पापमपि] पुण्य भी, पाप भी [कालः नभः धर्माधर्ममपि कायः] काल, आकाश, धर्म, अधर्म-द्रव्य, शरीर [एक अपि आत्मा नैव भवति] एक भी आत्मा नहीं होता ।



+ आत्मा क्या है? -

अप्पा संजमु सीलु तउ अप्पा दंसणु णाणु ।

अप्पा सासय-मोक्ख-पउ जाणंतउ अप्पाणु ॥९३॥

अन्वयार्थ : [आत्मा संयमः शीलं तपः] आत्मा ही संयम, शील, तप, [आत्मा दर्शनं ज्ञानम्] आत्मा दर्शन-ज्ञान है, [आत्मानम् जानन् आत्मा] अपने को जानता हुआ आत्मा [शाश्वतमोक्षपदं] अविनाशी मोक्षपद है ।



+ आत्मा ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र -

अण्णु जि दंसणु अत्थि ण वि अण्णु जि अत्थि ण णाणु ।

अण्णु जि चरणु ण अत्थि जिय मेल्लिवि अप्पा जाणु ॥९४॥

अन्वयार्थ : [जीव आत्मानं मुक्तवा] हे जीव, आत्मा को छोड़कर [अन्यदपि दर्शनं न एव] दूसरा कोई भी दर्शन नहीं, [अन्यदपि ज्ञानं न अस्ति] अन्य कोई ज्ञान नहीं होता, [अन्यद् एव चरणं नास्ति] अन्य कोई चरित्र नहीं है, ऐसा [जानीहि] जान ।



+ आत्मध्यान किसी तीर्थ, गुरु, देव से भी उत्कृष्ट -

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुउ म सेवि ।

अण्णु जि देउ म चिंति तुहुँ अप्पा विमलु मुएवि ॥९५॥

अन्वयार्थ : [जीव आत्मानं विमलं मुक्तवा] हे जीव निर्मल आत्मा को छोड़कर [त्वं अन्यद् एव] तू दूसरे [तीर्थ मायाहि] तीर्थ को मत जा, [अन्यद् एव गुरुं मा सेवस्व] दूसरे गुरु को मत सेव, [अन्यद् एव देवं मा चिन्तय] अन्य देव को मत ध्या ।



+ आत्मा ही दर्शन -

अप्पा दंसणु केवलु वि अण्णु सव्वु ववहारु ।

एक्कु जि जोइय झाइयइ जो तइलोयहुँ सारु ॥९६॥

अन्वयार्थ : [केवलः आत्मा अपि दर्शनं] केवल आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, [अन्यः सर्वः व्यवहारः] दूसरा सब व्यवहार है, [योगिन् एक एव ध्यायते] हे योगी एक आत्मा ही ध्याने योग्य है, [यः त्रैलोक्यस्य सारः] जो कि तीन लोक में सार है ।



+ आत्मध्यान से क्षणमात्र में मुक्ति -

अप्पा झायहि णिम्मलउ किं बहुएँ अण्णेण ।

जो झायंतहुँ परम-पउ लब्भइ एक्क-खणेण ॥९७॥

अन्वयार्थ : [निर्मलं आत्मानं ध्यायस्व] निर्मल आत्मा का ही ध्यानकर, [अन्येन बहुना किं] और बहुत पदार्थों से क्या ? [यं ध्यायमानानां एकक्षणेन] जिस परमात्मा के ध्यान करनेवालों को क्षणमात्र में [परमपदं लभ्यते] मोक्षपद मिलता है ।



+ आत्म-ज्ञान बिना ज्ञान तप निष्फल -

अप्पा णिय-मणि णिम्मलउ णियमें वसइ ण जासु ।

सत्थ-पुराणइँ तव-चरणु मुक्खु वि करहिँ कि तासु ॥९८॥

अन्वयार्थ : [यस्य निजमनसि] जिसके अपने मन में [निर्मलः आत्मा] निर्मल आत्मा [नियमेन न वसति] निश्चय से नहीं रहता, [तस्य शास्त्रपुराणानि तपश्चरणमपि] उसके शास्त्र, पुराण, तपस्या भी [किं मोक्षं कुर्वति] क्या मोक्ष को कर सकते हैं ?



+ आत्मज्ञान से केवलज्ञान -

जोइय अप्पे जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ ।
अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ ॥९९॥

अन्वयार्थ : [योगिन् आत्मना ज्ञातेन] हे योगी आत्मा के जानने से [जगत् ज्ञातं भवति] जगत का जानना होता है, [आत्मनः संबन्धिनि भावे] आत्मा से सम्बंधित भाव (स्वभाव, केवलज्ञान) में [बिम्बितं येन वसति] (जगत) बिम्बित हुआ बसता है ।



+ उसी को दृढ़ करते हैं -

अप्प-सहावि परिट्टियह एहउ होइ विसेसु ।
दीसइ अप्प-सहावि लहु लोयालोउ असेसु ॥१००॥

अन्वयार्थ : [आत्मस्वभावे प्रतिष्ठितानां] आत्मा के स्वभाव में लीन हुए पुरुषों के [एष विशेषः भवति] यह विशेषता होती है, कि [आत्मस्वभावे] आत्म-स्वभाव में उनको [अशेषः लोकालोकः] समस्त लोकालोक [लघु दृश्यते] शीघ्र ही दिख जाता है ।



+ केवलज्ञान का स्वभाव -

अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रवि-राउ ।
जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थु-सहाउ ॥१०१॥

अन्वयार्थ : [यथा अंबरे रविरागः] आकाश में सूर्य का प्रकाश के जैसे [आत्मा आत्मानं परं प्रकाशयति] आत्मा अपने और पर पदार्थों को प्रकाशता है, [योगिन् अत्र] हे योगी इसमें [भ्रान्तिं मा कुरु] संदेह मत कर, [एष वस्तुस्वभावः] ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है ।



+ उदाहरण -

तारायणु जलि बिंबियउ णिम्मलि दीसइ जेम ।
अप्पए णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउ वि तेम ॥१०२॥

अन्वयार्थ : [तारागणः निर्मले जले] जैसे ताराओं का समूह निर्मल जल में [बिम्बितः दृश्यते यथा] प्रतिबिम्बित हुआ दिखता है जैसे, [तथा निर्मले आत्मनि] उसी प्रकार निर्मल आत्मा में [लोकालोकं अपि] भी लोक-अलोक (भासते हैं) ।



+ उपसंहार -

अप्पु वि परु वि वियाणइ जेँ अप्पेँ मुणिएण ।

सो णिय-अप्पा जाणि तुहुँ जोइय णाण-बलेण ॥१०३॥

अन्वयार्थ : [येन आत्मना विज्ञातेन] जिस आत्मा को जानने से [आत्मा अपि परः अपि विज्ञायते] आप और पर सब पदार्थ जाने जाते हैं, [तं निजात्मानं] उस अपने आत्मा को [योगिन् त्वं] हे योगी तू [ज्ञानबलेन जानीहि] ज्ञान के बल से जान ।



+ प्रश्न -

णाणु पयासहि परमु महु किं अण्णेँ बहुएण ।

जेण णियप्पा जाणियइ सामिय एक्क-खणेण ॥१०४॥

अन्वयार्थ : [स्वामिन् येन ज्ञानेन] हे भगवान् जिस ज्ञान से [एकक्षणेन निजात्मा ज्ञायते] क्षणभर में अपनी-आत्मा जानी जाती है, वह [परमं ज्ञानं मम प्रकाशय] परम ज्ञान मेरे प्रकाशित करिए, [अन्येन बहुना किं] और बहुत विकल्प-जालों से क्या ?



+ आत्मा का संस्थान -

अप्पा णाणु मुणेहि तुहुँ जो जाणइ अप्पाणु ।

जीव-पएसहिँ तित्तिडउ णाणें गयण-पवाणु ॥१०५॥

अन्वयार्थ : [त्वं आत्मानं] तू आत्मा को ही [ज्ञानं मन्यस्व] ज्ञान जान [यः आत्मानम्] जो आत्मा [जीवप्रदेशैः तावन्मात्रं] जीव-प्रदेशों से शरीर-प्रमाण [ज्ञानेन गगनप्रमाणम्] ज्ञान से आकाश-प्रमाण है ।



+ पर भावों को छोड़ -

अप्पहँ जे वि विभिण्ण वढ ते वि हवन्ति ण णाणु ।

ते तुहुँ तिण्णि वि परिहरिवि णियमिँ अप्पु वियाणु ॥१०६॥

अन्वयार्थ : [आत्मनः ये अपि विभिन्नाः] आत्मा से जो जुदे हैं [वत्स] हे शिष्य, [तेऽपि ज्ञानम् न भवन्ति] वे भी ज्ञान नहीं हैं, [तान् त्वं त्रीणि अपि] तुम उन तीनों (धर्म, अर्थ, कामरूप भावों) को [परिहृत्य नियमेन] छोड़कर निश्चय से [आत्मानं विजानीहि] आत्मा को जान ।



+ आत्मा ज्ञान गोचर -

अप्पा णाणहँ गम्मु पर णाणु वियाणइ जेण ।
तिण्णि वि मिल्लिवि जाणि तुहुँ अप्पा णाणें तेण ॥१०७॥

अन्वयार्थ : [आत्मा ज्ञानस्य गम्यः] आत्मा ज्ञान द्वारा गोचर है, [परः ज्ञानं विजानाति येन] जैसे पर को ज्ञान जानता है, [तेन त्वं] इसलिये तू [त्रीणि अपि मुक्तवा] तीनों (धर्म, अर्थ, काम) ही भावों को छोड़कर [ज्ञानेन आत्मानं जानीहि] ज्ञान से निज आत्मा को जान ।



+ परलोक -- आत्मा से परमात्मा -

णाणिय णाणिउ णाणिएण णाणिउँ जा ण मुणेहि ।
ता अण्णाणिं णाणमउँ किं पर बंभु लहेहि ॥१०८॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानिन् ज्ञानी ज्ञानिना ज्ञानिनं] हे ज्ञानी ! आत्मा को ज्ञान द्वारा आत्मा के लिए [यावत् न जानासि] जब तक नहीं जानता, [तावद् अज्ञानेन] तब तक अज्ञानी होने से [ज्ञानमयं परं ब्रह्म] ज्ञानमय परमात्मा को [किं लभसे] क्या पा सकता है ?



+ परलोक -- अपना स्वरूप जानना -

जोइज्जइ तिं बंभु परु जाणिज्जइ तिं सोइ ।
बंभु मुणेविणु जेण लहु गम्मिज्जइ परलोइ ॥१०९॥

अन्वयार्थ : [तेन परः ब्रह्मा दृश्यते] उनसे शुद्धात्मा देखा जाता है, [तेन स एव ज्ञायते] उनसे वही (शुद्धात्मा) जाना जाता है, [येन ब्रह्म मत्वा] इससे अपना स्वरूप जानकर [परलोके लघु गम्यते] परलोक को शीघ्र ही प्राप्त होता है ।



+ परलोक -- ध्यान का ध्येय -

मुणि-वर-विंदहँ हरि-हरहं जो मणि णिवसइ देउ ।
परहँ जि परतरु णाणमउ सो वुच्चइ पर-लोउ ॥११०॥

अन्वयार्थ : [यः मुनिवरवृन्दानां हरिहराणां] जो मुनिश्वरों के समूह के तथा इन्द्र, वासुदेव, रुद्रों के [मनसि निवसति] चित्त में बस रहा है, [सः परस्माद् अपि परतरः] वह उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट [ज्ञानमयः परलोकः उच्यते] ज्ञानमयी परलोक कहा जाता है ।



+ जैसी मति वैसी गति -

सो पर वुच्चइ लोउ परु जसु मइ तित्थु वसेइ ।

जहिँ मइ तहिँ गइ जीवह जि णियमें जेण हवेइ ॥१११॥

अन्वयार्थ : [यस्य मतिः तत्र वसति] जिसकी बुद्धि उस (निज-आत्म स्वरूप) में बसती है, [स परः] वह पुरुष [परः लोकः] परलोक (उत्कृष्ट जन) [उच्यते] कहा जाता है [येन यत्र मतिः] क्योंकि जैसी बुद्धि होती है, [तत्र एव जीवस्य गतिः] वैसी ही जीव की गति [नियमेन भवति] नियम से होती है ।



+ पर-द्रव्य को मत देख -

जहिँ मइ तहिँ गइ जीव तहुँ मरणु वि जेण लहेहि ।

तैं परबंभु मुएवि मइँ मा पर-दव्वि करेहि ॥११२॥

अन्वयार्थ : [जीव यत्र मतिः] हे जीव ! जहाँ तेरी बुद्धि है, [तत्र गतिः] उसी ओर गति है, [येन त्वं मृत्वा लभसे] वैसा ही तू मरकर पावेगा, [तेन परब्रह्म मुक्तवा] इसलिये शुद्धात्मा को छोड़कर [परद्रव्ये मतिं मा कार्षीः] पर-द्रव्य में बुद्धि को मत कर ।



+ पर-द्रव्य -

जं णियदव्वहँ भिण्णु जडु तं परदव्वु वियाणि ।

पुगलु धम्माधम्मु णहु कालु वि पंचमु जाणि ॥११३॥

अन्वयार्थ : [यत् निजद्रव्याद् भिन्नं] जो आत्म-पदार्थ से जुदा [जडं तत् परद्रव्यं जानीहि] जड़, उसे परद्रव्य जानो वे [पुद्गलः धर्माधर्मः नभः कालं अपि पंचमं] पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और पाँचवाँ काल [जानीहि] (ये सब पर-द्रव्य) जानो ।



+ ध्यान की सामर्थ्य -

जइ णिविसद्धु वि कु वि करइ परमप्पइ अणुराउ ।

अग्गि-कणी जिम कट्ठ-गिरि डहइ असेसु वि पाउ ॥११४॥

अन्वयार्थ : [यदि निमिषार्धमपि कोऽपि] जो आधे निमेषमात्र भी [परमात्मनि अनुरागम् करोति] कोई परमात्मा में प्रीति करे तो [यथा अग्निकणिका] जैसे अग्नि की कणी [काष्ठगिरिं दहति] काठ के पहाड़ को भस्म करती है, उसी तरह [अशेषम् अपि पापम्] सब ही पापों को भस्म कर डाले ।



+ चिंता रहित होकर देख -

मेल्लिवि सयल अवक्खडी जिय णिच्चिंतउ होइ ।
चित्तु णिवेसहि परमपए देउ णिरंजणु जोइ ॥११५॥

अन्वयार्थ : [जीव सकलां चिन्तां मुक्त्वा] हे जीव समस्त चिन्ताओं से मुक्त [निश्चिन्तः भूत्वा] निश्चिन्त होकर [चित्तं परमपदे निवेशय] मन को परमपद में लगा, और [निरंजनं देवं पश्य] निरंजन देव को देख ।



+ आत्म-ध्यान के बिना सुख सम्भव नहीं -

जं सिव-दंसणि परम-सुहु पावहि झाणु करंतु ।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणंतु ॥११६॥

अन्वयार्थ : [यत् ध्यानं कुर्वन्] जिसके ध्यान करने से [शिवदर्शने परमसुखं प्राप्नोषि] मुक्ति दर्शन का अत्यंत सुख पाया जाता है, [तत् सुखं भुवने अपि] वह सुख तीन-लोक में भी [देवं मुक्त्वा अनन्तम्] परमात्म द्रव्य के सिवाय अन्य किसी में [नैव अस्ति] नहीं है ।



+ आत्म-ध्यानी के सुख के सामान सुख नहीं -

जं मुणि लहइ अणंत-सुहु णिय-अप्पा झायंतु ।
तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिँ कोडि रमंतु ॥११७॥

अन्वयार्थ : [निजात्मनं ध्यायन् मुनिः] अपनी आत्मा को ध्यावता मुनि [यत् अनन्तसुखं लभते] जिस अनंत-सुख को पाता है, [तत् सुखं इन्द्रः अपि] उस सुख को इन्द्र भी [देवीनां कोटि रम्यमाणः नैव लभते] करोड़ देवियों के साथ रमता हुआ नहीं पाता ।



+ आत्म-ध्यानी को भगवान जैसा सुख -

अप्पा-दंसणि जिणवरहँ जं सुहु होइ अणंतु ।
तं सुहु लहइ विराउ जिउ जाणंतउ सिउ संतु ॥११८॥

अन्वयार्थ : [आत्मदर्शने जिनवराणां] जिनेन्द्र को आत्म-दर्शन द्वारा [यत् अनन्तम् सुखं भवति] जैसा अनंत सुख होता है, [तत् सुखं विरागः जीवः] वह सुख विरागी जीव को [शिवं शांतं जानन् लभते] शांत मुक्त जानता हुआ पाता है ।



+ मोक्ष अपने आप में -

जोइय णिय-मणि णिम्मलए पर दीसइ सिउ संतु ।
अंबरि णिम्मलि घण-रहिए भाणु जि जेम फुरंतु ॥११९॥

अन्वयार्थ : [योगिन् निर्मले निजमनसि] हे योगी ! निर्मल अपने मन में [शिवः शांतः परं दृश्यते] शांत मोक्ष नियम से दिखता है [घनरिहते निर्मले अंबरे] बादल-रहित निर्मल आकाश में [भानुः इव स्फुरन् यथा] सूर्य के समान भासमान (प्रकाशमान) जैसे ।



+ राग-रंजित को मोक्ष-सुख नहीं -

राएँ रंगिए हियवडए देउ ण दीसइ संतु ।
दप्पणि मइलए बिंबु जिम एहउ जाणि णिभंतु ॥१२०॥

अन्वयार्थ : [रागेन रंजिते हृदये] राग से रंजित हृदय में [शांतः देवः न दृश्यते] शांत आत्म-देव नहीं दिखता, [यथा मलिने दर्पणे] जैसे कि मैले दर्पण में [बिंबं एतत्] मुख नहीं भासता ऐसा [निर्भ्रान्तम् जानीहि] संदेह रहित जान ।



+ राग और सुख एक साथ नहीं रह सकते -

जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बंभु वियारि ।
ऐक्कहिँ केम समंति वढ बे खंडा पडियारि ॥१२१॥

अन्वयार्थ : [यस्य हृदये हरियाक्षी वसति] जिसके चित्त में मृग के समान नेत्रवाली स्त्री बसती है [तस्य ब्रह्म नैव] उसके शुद्धात्मा नहीं है; [विचारय बत इक्स्मिन् प्रतिकारे] विचार कर खेद की बात है कि एक म्यान में [द्वौखङ्गो कथं समायातौ] दो तलवारें कैसे आ सकती हैं ?



+ भगवान आत्मा अनादि से -

णिय-मणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ ।
हंसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ ॥१२२॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानिनां निर्मले निजमनसि] ज्ञानियों के मल-रहित निजमन में [अनादिः देवः निवसति] अनादि देव निवास करता है, [यथा सरोवरे लीनः हंसः] जैसे सरोवर में लीन हुआ हंस बसता है [मम एवं प्रतिभाति] मुझे ऐसा मालूम पड़ता है ।



+ वन्द्य-वंदक भाव रहित -

मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु वि मणस्स ।

बीहि वि समरसि हूवाहँ पुज्ज चडावउँ कस्स ॥१२३-अ॥

अन्वयार्थ : [मनः परमेश्वरस्य] मन परमेश्वर में और [परमेश्वरः अपि मनसः मिलितं] परमेश्वर भी मन में मिल गया [द्वयोः अपि समरसीभूतयोः] दोनों ही को आपस में एकमएक होने पर [कस्य पूजां समारोपयामि] किसकी अब मैं पूजा करूँ ?



+ मन पर लगाम द्वारा मुक्ति प्राप्ति -

जेण णिरंजणि मणु धरिउ विषय-कसायहिँ जंतु ।

मोक्खहँ कारणु एत्तडउ अण्णु ण तनु ण मंतु ॥१२३-ब॥

अन्वयार्थ : [येन विषयकषायेषु गच्छत् मनः] जिसने विषय कषायों में जाता हुआ मन [निरंजने धृतं एतावदेव] कर्मरूपी अंजन से रहित भगवान् में रक्खा वे ही [मोक्षस्य कारणं] मोक्ष के कारण हैं, [अन्यः तन्त्रं न मन्त्रः न] दूसरा कोई तंत्र नहीं और मंत्र नहीं ।



+ समभाव द्वारा सुख की प्राप्ति -

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।

अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम-चित्ति ॥१॥

अन्वयार्थ : [देवः] आत्मदेव [न देवकुले] देवालय (मंदिर) में नहीं, [शिलायां नैव] पाषाण की प्रतिमा में भी नहीं, [लेपे नैव] लेप में भी नहीं, [चित्रे नैव] चित्राम की मूर्ति में भी नहीं; [अक्षयः निरंजनः] अविनाशी, कर्माञ्जन से रहित, [ज्ञानमयः] केवलज्ञान से पूर्ण, [शिवः] मुक्त [समचित्ते संस्थितः] समभाव में तिष्ठता है ।



+ शिष्य द्वारा अनुरोध -

सिरिगुरु अक्खहि मोक्खु महु मोक्खहँ कारणु तत्थु ।

मोक्खहँ केरउ अण्णु फलु जँ जाणउँ परमत्थु ॥२॥

अन्वयार्थ : [श्रीगुरो मम मोक्षं] हे श्रीगुरु, मुझे मोक्ष [तथ्यम् मोक्षस्यकारणं] सत्यार्थ मोक्ष का कारण, [अन्यत् मोक्षस्य संबंधि] और मोक्ष का [फलं आख्याहि] फल कृपाकर कहो [येन परमार्थं जानामि] जिससे कि मैं परमार्थ को जानूँ ।



+ मोक्ष, मोक्ष का फल, मोक्ष का कारण करने की प्रतिज्ञा -

जोइय मोक्खु वि मोक्ख-फ लु पुच्छिउ मोक्खहँ हेउ ।
सो जिण-भासिउ णिसुणि तुहुँ जेण वियाणहि भेउ ॥३॥

अन्वयार्थ : [योगिन् मोक्षोऽपि] हे योगी, तूने मोक्ष और [मोक्षफलं मोक्षस्य हेतुः] मोक्ष का फल तथा मोक्ष का कारण [पुष्टं तत्] पूछा, उसको [जिनभाषितं] जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे को [त्वं निश्चय] तू निश्चय से सुन, [येन भेदम् विजानासि] जिससे कि भेद अच्छी तरह जान जावे ।



+ मोक्ष ही सुख -

धम्मह अत्थहँ कामहँ वि एयहँ सयलहँ मोक्खु ।
उत्तमु पभणहिँ णाणि जिय अण्णैँ जेण ण सोक्खु ॥४॥

अन्वयार्थ : [जीव धर्मस्य] हे जीव, धर्म के, [अर्थस्य] अर्थ के [कामस्य अपि] और काम के [एतेषां सकलानां] इन सब (पुरुषार्थों) में [मोक्षम् उत्तमं ज्ञानिनः] मोक्ष को उत्तम ज्ञानी [प्रभणंति] कहते हैं, [येन अन्येन] क्योंकि अन्य (धर्म, अर्थ, कामादि) में [सौख्यम् न] परम-सुख नहीं है ।



+ तीन पुरुषार्थों की अपेक्षा मोक्ष पुरुषार्थ की उत्तमता -

जइ जिय उत्तमु होइ णवि एयहँ सयलहँ सोइ ।
तो किं तिण्णि वि परिहरवि जिण वच्चहिँ पर-लोइ ॥५॥

अन्वयार्थ : [जीव यदि एतेभ्यः सकलेभ्यः] हे जीव, यदि इन सबों में [सः उत्तमः एव नैव] वह (मोक्ष) ही उत्तम नहीं [भवति ततः] होता तो [जिनाः त्रीण्यपि] श्रीजिनवरदेव धर्म, अर्थ, काम इन तीनों को [परिहृत्य परलोके] छोड़कर मोक्ष में [किं व्रजंति] क्यों जाते ?



+ मोक्ष तीन-लोक में उत्कृष्ट -

अणु जइ जगहँ वि अहिययरु गुण-गणु तासु ण होइ ।
तो तइलोउ वि किं धरइ णिय-सिर-उप्परि सोइ ॥६॥

अन्वयार्थ : [अन्यद् यदि] फिर जो [जगतः अपि अधिकतरः] सब लोक से भी बहुत ज्यादा [गुणगणः तस्य न भवति] गुणों का समूह उस (मोक्ष) में नहीं होता, [ततः त्रिलोकः अपि] तो तीनों ही लोक [निजशिरसि उपरि] अपने मस्तक के ऊपर [तमेव किं धरति] उसे (मोक्ष को) क्यों धारण करते ?



+ मोक्ष में अविनाशी सुख -

उत्तमु सुखु ण देइ जइ उत्तमु मुखु ण होइ ।

तो किं सयलु वि कालु जिय सिद्ध वि सेवहिँ सोइ ॥८॥

अन्वयार्थ : [यदि उत्तमं सुखं] जो उत्तम अविनाशी सुख को [न ददाति] नहीं देवे, तो [मोक्षः उत्तमः न भवति] मोक्ष उत्तम भी नहीं होता [ततः जीव] तो हे जीव ! [सिद्धा अपि सकलमपि कालं] सिद्धपरमेष्ठी भी अखण्ड रूप से सदा-काल [तमेव किं सेवन्ते] उसी (मोक्ष) को क्यों सेवन करते ?



+ सभी ज्ञानियों का ध्येय मोक्ष -

हरिहरब्रह्माणोऽपि जिनवरा अपि मुनिवरवृन्दान्यपि भव्याः ।

परमनिरञ्जने मनः धृत्वा मोक्षं एव ध्यायन्ति सर्वे ॥८॥

अन्वयार्थ : [हरिहरब्रह्माणोऽपि] नारायण वा इन्द्र, रुद्र अन्य ज्ञानी पुरुष [जिनवरा अपि] श्रीतीर्थकर परमदेव [मुनिवरवृन्दान्यपि भव्याः] मुनीश्वरों के समूह तथा भव्य जीव [परमनिरञ्जने] परम निरञ्जन में [मनः धृत्वा] मन रखकर [सर्वे मोक्षं एव ध्यायन्ति] सब ही मोक्ष को ही ध्यावते हैं ।



+ मोक्ष के चिंतन की प्रेरणा -

तिहुयणि जीवहँ जत्थि णवि सोक्खहँ कारणु कोइ ।

मुक्सु मुएविणु एक्कु पर तेणवि चिंतहि सोइ ॥९॥

अन्वयार्थ : [त्रिभुवने जीवानां] तीन लोक में जीवों को [मोक्षं मुक्त्वा] मोक्ष के छोड़कर [किमपि सुखस्य कारणं] कुछ भी सुख का कारण [नैव अस्ति] नहीं है, [तेन परं एकं] इसलिए नियम से एक (मोक्ष) का ही [तम् एव विचिंतय] तू चिंतन कर ।



+ मोक्ष - परमात्म-प्राप्ति -

जीवहँ सो पर मोक्खु मुणि जो परमप्पय-लाहु ।

कम्म-कलंक-विमुक्काहँ णाणिय बोल्लहिँ साहु ॥१०॥

अन्वयार्थ : [कर्मकलंकविमुक्तानां जीवानां] कर्मरूपी कलंक से रहित जीवों को [यः परमात्मलाभः] जो परमात्म की प्राप्ति है [तं परं मोक्षं मन्यस्व] उसी को नियम से तू मोक्ष

जान, ऐसा [ज्ञानिनः साधवः ब्रुवन्ति] ज्ञानवान् मुनिराज कहते हैं ।



+ मोक्षफल - शास्वत सुख -

दंसणु णाणु अणंत-सुहु समउ ण तुट्ठइ जासु ।
सो पर सासउ मोक्ख-फलु बिज्जउ अत्थि ण तासु ॥११॥

अन्वयार्थ : [यस्य] जिस (मोक्ष-पर्याय के धारक शुद्धात्मा) के [दर्शनं ज्ञानं अनंतसुखं] केवलदर्शन, केवलज्ञान, और अनंतसुख [समयं न त्रुटयति] एक समयमात्र भी नाश नहीं होता, [तस्य तत् परं] उस (शुद्धात्मा) के वही निश्चय से [शाश्वतं फलं] हमेशा रहनेवाला (मोक्ष का) फल [अस्ति द्वितीयं न] है, इसके सिवाय दूसरा मोक्ष-फल नहीं है ।



+ मोक्ष-मार्ग - निश्चय रत्नत्रय -

जीवहँ मोक्खहँ हेउ वरु दंसणु णाणु चरित्तु ।
ते पुणु तिण्णि वि अप्पु मुणि णिच्छएँ एहउ वुत्तु ॥१२॥

अन्वयार्थ : [जीवानां मोक्षस्य हेतुः] जीवों को मोक्ष का कारण [वरं दर्शनं ज्ञानं चारित्रम्] उत्कृष्ट दर्शन ज्ञान और चारित्र हैं [तानि पुनः त्रीण्यपि] फिर वे तीनों ही [निश्चयेन आत्मानं] निश्चय से आत्मा को ही [मन्यस्व एवं उक्तम्] माने ऐसा कहा है, ।



+ मोक्ष-मार्ग - रत्नत्रय परिणत आत्मा -

पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पिं अप्पउ जो जि ।
दंसणु णाणु चरित्तु जिउ मोक्खहँ कारणु सो जि ॥१३॥

अन्वयार्थ : [य एव आत्मना] जो अपने से [आत्मानं पश्यति] अपने को देखना, [जानाति अनुचरति] जानना, आचरण करना, [स एव दर्शनं ज्ञानं चारित्रं] वही दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत हुआ [जीवः मोक्षस्य कारणं] जीव मोक्ष का कारण है ।



जं बोल्लइ ववहारु-णउ दंसणु णाणु चरित्तु ।
तं परियाणहि जीव तुहुँ जँ परु होहि पवित्तु ॥१४॥

अन्वयार्थ : [जीव व्यवहारनयः यत्] हे जीव, व्यवहारनय जो [दर्शनं ज्ञानं चारित्रम्] दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों को [ब्रूते तत्] कहता है, उस (व्यवहार रत्नत्रय) को [त्वं परिजानीहि येन] तू जान, जिससे कि [परः पवित्रः भवसि] उत्कृष्ट अर्थात् पवित्र होवे ।



दव्वइँ जाणइ जहठियइँ तह जगि मण्णइ जो जि ।
अप्पहँ केरउ भावडउ अविचलु दंसणु सो जि ॥१५॥

अन्वयार्थ : [य एव द्रव्याणि] जो द्रव्यों को [यथास्थितानि जानाति] जैसा उनका स्वरूप है, वैसा जाने, [तथा जगति मन्यते] और उसी तरह इस जगत में निर्दोष श्रद्धान करे, [स एव आत्मनः संबंधी] वही आत्मा का [अविचलः भावः] निश्चल भाव, [स एव दर्शनं] वही सम्यक्दर्शन है ।

